सिद्ध का होना

पवनकुमार गुप्त

''सिद्ध" के प्रसंशक ही नहीं, उसके आलोचक भी यह मानते हैं कि हमने लीक से हट के कुछ काम किये और आज भी छोटे पैमाने पर कर रहे हैं। एक जमाने में हमें "विकास विरोधी" कहा जाता था, और इस टिप्पणी पर हमारे साथी खुश होते थे। यह तोहमत (या तगमा, यह तो नजरिये का मामला है) आज भी, "सबका साथ, सबका विकास" के जमाने में, हम पर लागू किया जा सकता है। हमारे साथी और वे जो हमारी मित्र मंडली - देश और दुनिया - में हैं, जानते हैं कि "सिद्ध" में बहुत से ऐसे काम हुए, जो अमूमन जिसे grassroot ngo कहा जाता है, प्रायः नहीं करतीं। इसमे पत्रिका (रैबार) निकालना, सेमिनार, गोष्ठियाँ इत्यादि तो हैं ही, इसके अलावा हमारे तरीके भी अलग रहे। हमारा बजट कभी भी 15-20 लाख (एक आध वर्ष 30-40 भी) से ज्यादा न रहा हो पर हमारे काम की गहराई करोड़ों के बजट वाली संस्थाओं से ज्यादा रही। यह अभिमान पूर्वक नहीं, एक तथ्य के रूप में बताना जरूरी है। एक समय हम लोग कहते थे कि जितने पैसे "सिद्ध" ने संस्थाओं से लिए उससे ज्यादा लौटाये क्योंकि हमारा संस्थाओं की शर्तों और उसके पीछे की राजनीति से मतभेद था। उत्तराखंड में हम एक मात्र संस्था थीं, जिन्होंने विश्व बैंक का (पानी का प्रोजेक्ट) न्यौता भी ठुकराया क्योंकि उसके पीछे की छुपी राजनीति हम समझ सके।

तो "सिद्ध" के काम करने के, प्रबंधन के, पैसों के लेन-देन, निर्णय लेने के क्या तरीके रहे, यह कुछ लोगों के लिए जिज्ञासा का और कुछ के लिए शोध का विषय हो सकता है। एक साथी (अनिल मैखुरी) के कहने पर मैं इस दिशा में सोचने का प्रयास कर रहा हूँ।

"सिद्ध" कोई सोची समझी योजना के अंतर्गत नहीं बना। यह तो बस हो गया, यह पहली बात। यह शायद सबसे जरूरी पहलू है ध्यान में रखने का। इससे पहले मैंने इंजीनीयरिंग की पढ़ाई की थी और एक उद्योग लगाया और चलाया था। उसमे सार्थकता नजर नहीं आई। पैसा पैसे को खींचता है और चालाकी और बेईमानी (बड़ी या छोटी) के बैगर इस देश में व्यापार या उद्योग को चलाना बड़ा मुश्किल है यह जल्दी ही समझ आ गया था। उस दुनिया से अलग एकांत में चिंतन-मनन, विपश्यना साधना और अध्ययन करने की नियत से यहाँ पहाड़ों में रहने का मन बना। "सिद्ध" की उत्पत्ति बहुत ही सहज ढंग से हुई। कोई सोची समझी योजना के अंतर्गत नहीं। और एक लाइन में कहूँ तो उसका काम-काज भी ऐसे ही चला।

संस्थाओं (ngo) का कोई पुराना अनुभव नहीं था। कोई दोस्त-मित्र या नाते-रिश्तेदार भी ऐसे नहीं थे जिनसे सलाह मिलती। ज्यादातर नजदीकी तो यह मानते थे (यह मेरा अनुमान है) कि मेरा सिर फिर गया है या मैं भगोड़ा हूँ। उन्हे पहाड़ में जा कर रहने का मेरा निर्णय समझ ही नहीं आया हालाँकि किसी ने खुल कर आपत्ति नहीं जताई पर कोई सहयोग या प्रोत्साहन भी, शुरुआती दिनों में, नहीं मिला। न मैंने माँगा। पहाड़ में रहना, जहाँ पुरानी कोई पहचान भी नहीं थी, और "सिद्ध" शुरू करना, अज्ञात में छलांग लगाने जैसा ही था। यह बताना मुश्किल है कि ऐसा हम कैसे कर पाये। कहाँ से हिम्मत और विश्वास आया? पहला पैसा (अनुदान) भी - करीब तीन लाख रूपये - काम करने के लगभग एक वर्ष बाद, कई सारे संयोग से, बिना कोशिश किये, टपक से पड़े। और इसी सहजता और अपने-आप, आज तक चीजें होती जा रही हैं अच्छा, बुरा (बुरा कहना शायद गलत होगा, अवरोध ज्यादा अच्छा शब्द होगा) दोनों। स्वयं को श्रेय देना, पचता नहीं।

ज्यादातर नजदीकी तो यह मानते थे (यह मेरा अनुमान है) कि मेरा सिर फिर गया है या मैं भगोड़ा हूँ। उन्हें पहाड़ में जा कर रहने का मेरा निर्णय समझ ही नहीं आया हालाँकि किसी ने खुल कर आपत्ति नहीं जताई पर कोई सहयोग या प्रोत्साहन भी, शुरुआती दिनों में, नहीं मिला। न मैंने माँगा।

सहजता का एक अर्थ अँग्रेजी में spontaneity भी है। तो काम करने की शैली का जहाँ तक सवाल है वो सहज रही। जो जब समझ आया वैसे किया। कोई निश्चित कार्य प्रणाली नहीं रही। लोगों के, पैसा देने वाली संस्थाओं के सुझाव पर कई बार systems बनाने की कोशिश भी की, पर उस पर पूरी शिद्दत के साथ टिके रहना नहीं हुआ। संवेदनशीलता तथा लचीलेपन और system और अत्यधिक नियम कानूनों के बीच एक विरोध होता है।

समाजवादी विचारों का प्रभाव बचपन से मन पर था। कृष्णमूर्ति जी को भी पढ़ा था, विपश्यना का और भगवान बुद्ध की वाणी का भी कुछ प्रभाव था। ऐसा सुना था कि भगवान बुद्ध ने एक बार कुछ इस आशय की बात की थी कि 'लम्बी योजनायें निरर्थक होती हैं'। यह बात अपने अंदर तक बैठ गई और आज तक बैठी है। इसका असर प्रबंधन करने के तरीके पर भी निश्चित ही पड़ा। कृष्णमूर्ति तो तरीके को, system को, और संस्थाओं के ढांचे को पूरी तरह नकारते हैं ही। उनकी बात भी कहीं अंदर बैठी थी। संस्था का जंजाल होता है। संस्था जो एक जरिया होती है या होनी चाहिए - काम करने का, एक समय बाद आपको हाँकने लगती है। आप उससे बंध जाते हैं। और

पैसे की तो अपनी गति होती ही है। ज्यादा पैसा आपको चलाने लगता है। यह एक विडम्बना ही है। इस सब में हम भी कुछ हद तक फंसे, पर कृपा रही कि ज्यादा नहीं और जल्दी ही बहुत हद तक निकल भी गए। पैसे के प्रति हमेशा हम सतर्क रहे। दवाब अंदर और बाहर दोनों तरफ से, बहुत से आए, प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपों से, काम को बढ़ाने के, अधिक पैसे लेने के, लोभ भी आया, पहचान बनने पर गुदगुदी भी हुई, पर इस सब के बावजूद एवं अवरोध और नाराजगी के बावजूद इन दबावों को झेलने में हमे सफलता मिली। छोटी संस्था और कम पैसे से काम की सघनता बढ़ती है, ऐसा एक विश्वास हो गया। बड़ा काम और बड़ी संस्था का सिस्टम के जंजाल से बच पाना मुश्किल होता है। छोटे में बहुत हद तक यह संभव है।

कोई संयोग ही था कि हमे जल्द ही श्री किशन पटनायक, सामदोंग रींपोचे जी, धरमपाल जी, डाक्टर धीरू भाई शेठ (CSDS), बाबा नागराज और बाद में रवीन्द्र शर्मा 'गुरुजी' जैसों का अनायास ही सहयोग, साथ और (परोक्ष रूप में) मार्गदर्शन मिलते रहा हमारी समझ में वृद्धि और उसकी पुष्टि भी होती रही। । और भी साथी थे, सबका नाम लेना यहाँ संभव नहीं पर कुछेक – सुनील सहस्त्रबुद्धे, अरुणकुमार 'पनीबाबा', गणेश बगड़िया, रण सिंह आर्य – का नाम लेना उचित होगा। देश को अलग नजर से देखने की कूवत पैदा हुई। इन सब से परोक्ष रूप से हमारे तरीकों, सोच और पैसे के इस्तेमाल, हमारे काम को प्रोत्साहन मिला। हमें लगते रहा हम मोटा-मोटी अपनी सीमाओं के भीतर, ठीक ही कर रहे हैं। हमने बहुत सी ऐसी गोष्ठियाँ, सेमिनार और कोंफेरेंस की, जो पूरी तरह से दान देने वाली संस्थाओं के दायरे में नहीं आती थी, पर फिर भी हम अपना रास्ता निकाल लेते थे और उसको justify करने में सफल हुए। इसलिए धीरू भाई (CSDS) ने एक बार कहा "सिद्ध "एक संस्था से ज्यादा एक (वैचारिक) आंदोलन है"। वे मुझसे एक बार बोले "जब मैं किसी संस्था में जाता हूँ तो इसको महत्व नहीं देता कि पैसा कहाँ से आया पर इस पर ज्यादा महत्व देता हूँ कि उसका उपयोग कैसे हो रहा है"। मेरे लिए यह एक बड़ा compliment था। हम भी ऐसा ही मानते थे। हम दायरों से हट कर पैसे का सदुपयोग करने में सफल रहे, बहुत हद तक।

हमने बहुत सी ऐसी गोष्ठियाँ, सेमिनार और कॉन्फरेंस की, जो पूरी तरह से दान देने वाली संस्थाओं के दायरे में नहीं आती थी, पर फिर भी हम अपना रास्ता निकाल लेते थे और उसको Justify करने में सफल हुए।

इन गोष्ठियों ने हमारी समझ को बढ़ाने, उसे अपने काम से जोड़ने, भारत के

समाजों को समझने, सभ्यता और संस्कृति की बारीकियों को पहचानने में भारी मदद की। साथ ही हमारे साथियों का बौद्धिक क्षमता में तीव्रता से विकास हुआ। हमारी सेमिनार और गोष्ठियाँ हमेशा ही लिखे हुए पन्नों को पढ़ने वाली गोष्ठियों से अलग रहीं। गंभीरता परंतु एक सहजता और अनौपचारिकता लिए हुए होती थीं ये गोष्ठियाँ। इनमें यह नहीं होता था की बस बोलने वाले बोल दे और सुनने वाले सुनते रहें। पर कोशिश होती थी सभी मिलजुल कर मुद्दे की गहराइयों को समझे। याद आती है कौसानी के 'अनासक्ति आश्रम' में आयोजित 'आर्थिक उदारीकरण' पर हुई 7 दिनों चलने वाली गोष्ठी । 5 वें दिन किशन (पटनायक) जी, घोर समाजवादी, के मुंह से जब सुना कि "गांधी की आध्यात्मिकता अब समझ आती है। अब से पहले हम लोग उसे एक नाटक जैसा ही मानते थे, भारत के साधारण जन को लुभाने का एक तरीका। पर अब मुझे लगता है कि जिस प्रकार रोटी, कपड़ा और मकान मनुष्य की एक बुनियादी जरूरत है, वैसे ही अध्यात्म भी (एक बुनियादी) जरूरत है"। यह किशन जी के मुँह से पहली बार सुना। संभवत: यह उस स्थान (अनासक्ति आश्रम, कौसानी) और उस गोष्ठी की (सहज) डिजाइन की वजह से यह हो पाया। उससे, गोष्ठी में जो बातें हुईं, हमारे दिमाग में वैश्वीकरण और विश्व बैंक को लेकर अनेक बातें साफ हुईं और वही एक बड़ी वजह बनी कि हमने विश्व बैंक के पानी के प्रोजेक्ट को ठुकरा दिया। और फिर उस पर काफी लेख भी विभिन्न अखबारों में लिखे।

हर व्यक्ति एक अलग व्यक्तित्व, रुझान, कमजोरी, ताकत, complexes और मान्यताओं का एक अनूठा संयोग होता है। संस्थाओं के नियम अगर बहुत कठोरता से सब पर एक समान लागू किए जाये तो जो जिम्मेदार होते हैं उन पर अन्याय होता है और जो दूसरी तरह के होते हैं वे बड़ी चालाकी से नियमों के बावजूद अपना रास्ता, पतली गली से, निकाल लेते हैं।

जहाँ तक "सिद्ध" के (कार्यकर्ताओं) लोगों को संभालने की बात है यह ज्यादा पेचीदा मामला था। लोग मशीन नहीं होते। हर व्यक्ति एक अलग व्यक्तित्व, रुझान, कमजोरी, ताकत, complexes और मान्यताओं का एक अनूठा संयोग होता है। संस्थाओं के नियम अगर बहुत कठोरता से सब पर एक समान लागू किए जाय तो जो जिम्मेदार होते हैं उन पर अन्याय होता है और जो दूसरी तरह के होते हैं वे बड़ी चालाकी से नियमों के बावजूद अपना रास्ता, पतली गली से, निकाल लेते हैं। आधुनिकता की 'सब पर एक सा नियम' वाली दुहाई सुनने में अच्छी लग सकती है और रास्ता भी आसान जरूर कर देती है पर इसमे भारी नुकसान भी है।

"सिद्ध" में काम करने वाले साथी काम ही नहीं कर रहे थे, उन्हे लगातार मार्गदर्शन, प्रोत्साहन और उन पर नजर रखने की जरूरत थी। अधिकांश साथियों ने इससे पहले कहीं, घर और गाँव के अलावा, काम नहीं किया था। इसलिए उन्हे पग-पग पर परामर्श और सहयोग की जरूरत थी, उन्हे संभालने की जरूरत थी। उन पर संवेदनशील नजर रखने की जरूरत थी। और कुछ हो न हो, मुझे लगता था इन लोगों का, कम से कम उनका, जिनमे प्रतिभा और संभावना की पहचान हम कर पाये थे, को एक व्यापक और समग्र समझ दे पाएँ तो बड़ा काम होगा।

इसलिए बहुत सारी बौद्धिक गोष्ठियों में इन साथियों को भागीदारी करने के लिए लगातार प्रेरित किया गया, बहुदा उनकी सहज इच्छा के विरुद्ध भी। मेरा मानना है इसका बड़ा फायदा हुआ। इनकी सोचने समझने, विचार करने की शक्ति में अभूपूर्व विकास हुआ। यही लीक हमने अपने 'संजीवनी' कार्यक्रम में अपनायी। हमने कभी भी training, प्रशिक्षण, पाठ्यक्रम इत्यादि को बहुत महत्व नहीं दिया बल्कि ईमानदारी से अपने को टटोल कर मुद्दों पर बात करने को महत्व दिया। यह प्रणाली या पद्यति मुझे आज भी सबसे सार्थक लगती है। हमने शायद ही कभी professional trainers को अपने यहाँ बुलाया बल्कि ऐसे लोगों को आमंत्रित करते थे जिन्होने ईमानदारी से मुद्दों पर विचार किया हुआ था और लीक से हट कर सोचने में संकोच नहीं करते थे।

हमने कभी भी training, प्रशिक्षण, पाठ्यक्रम इत्यादि को बहुत महत्व नहीं दिया बल्कि ईमानदारी से अपने को टटोल कर मुद्दों पर बात करने को महत्व दिया। यह प्रणाली या पद्यति मुझे आज भी सबसे सार्थक लगती है।

सिद्ध में सबसे सघन काम अपने साथियों की बौद्धिक क्षमता बढ़ाने पर हुआ। प्राचीलित प्रणाली उस समय जो थी उसे 'capacity building' कहा जाता है। यह एक प्रकार की training होती थी जिस काम को लोग देख रहे हैं उसे और efficient तरीके से करें। हमे यह तरीका बहुत बैठा नहीं। हमारे साथी काम तो करते थे पर हमारा रवैया उनके साथ, कम से कम वो जो जिनमे संभावनाएं दिखीं, कभी भी नौकरी वाला नहीं रहा, बावजूद छुट-पुट डांट फटकार के। आज के आधुनिक जमाने में ऊपरी तौर पर बड़ी समानता दिखाई जाती है, पर वह समानता दिखावे वाली ज्यादा होती है। American corporate जगत में मालिक या अपने से वरिष्ठ अधिकारी को पहले नाम से (बिना sir इत्यादि के) भले ही पुकारा जाता हो पर organization dh hierarchy का सबको पता होता है और वह सब कुछ सीनियर जूनियर के बीच होता है जो शायद नहीं होना चाहिए।

हमारे यहाँ ठीक इसके विपरीत होता था। ऊपर से अलग लग सकता था पर साथियों को हर प्रकार की चीजें, सोचने समझने का भरपूर मौका मिलता था, जो इसका लाभ उठाना चाहे। 'अपने काम से काम रखने' वाला रवैया कभी नहीं रहा। हमारा तरीका था कि सब ही को all rounder और मौलिक सोच वाला बनाना है। चुनौती, जो हमने स्वीकारी वह थी कि गाँव के साधारण युवा, शहर और अँग्रेजी पढे लिखों से ज्यादा काबिल हो सकते हैं और इसमें हम सफल रहे। यह एक कारण था कि करीब 15 वर्ष तक हमने शहर और अँग्रेजीदाँ लोगों को "सिद्ध" से दूर रखा। यह इसलिए कि बहुत सारे मनोवैज्ञानिक दबाव होते हैं जो अनायास ही गाँव वालों को हीनता से ग्रसित कर देते हैं। 15 वर्ष बाद 'जीवन विद्या' के प्रभाव में आकर जब हमने शहर वालों के लिए दरवाजा खोला तो उसके दूरगामी परिणाम कुछ अच्छे नहीं आए। संभवत: दरवाजे जल्दी खोल दिये।

पैसे की चिंता हमने कभी नहीं की। पर कैसे न कैसे काम चला लेते। कई बार तो बड़े प्रोग्राम भी किए, बिना पैसे के आश्वासन के, जैसे शिक्षकों की एक बड़ी कोन्फ्रेंस। इसमे लगभग 400 शिक्षक उत्तरखंड से आए और कुछ बाहर के भी। कानफेरेंस शायद तीन दिनों की थी। एक सहयोगी ने Microsoft से 1 लाख रुपये दिलवाने का भरोसा दिया। उनकी शर्त थी की वे कोंफेरेंस के बीच आधे घंटे का समय लेंगे जिसमें वे अपने software के बारे में शिक्षकों को एक presentation देंगे। Microsoft को लेकर मन में सवाल थे पर पैसे की जरूरत थी और आधे घंटे, तीन दिन में ज्यादा नहीं होते, सोचकर हमने शर्त मान ली। Microsoft ने हमे 25 हजार पेशगी भी दे दी, बाकी 75 हजार प्रोग्राम के बाद देने की बात थी। हाँ, उनका एक बैनर भी मंच के पीछे लगाया गया। सबसे पहले श्रद्धेय सामदोंग रिंपोची का सम्बोधन था। उनकी सारी बात में मुख्य मुद्दा टेक्नॉलॉजी के विरोध में ही था। साथ ही उन्होंने Microsoft पर भी एक छोटी सी टिप्पणी कर दी। उसके बाद मेरे मित्र किसान नेता, रण सिंह आर्य ने तो सीधे सीधे Microsoft पर प्रहार ही कर दिया और तंज करते हुए "सिद्ध" को भी लपेट लिया। 2 एक आधे घंटे बाद जब माइक्रोसॉफ्ट के presentation का नंबर आया और उनकी टीम का नाम पुकारा गया तो वो टाई-सूट वाला दल नदारद था। वे रिंपोचे जी और रण सिंह की बाते सुनकर शायद भाग खड़े हुए। उन्हें लगा होगा, उनकी बड़ी पूछ होगी, जैसा अक्सर इन जैसी संथाओं के साथ देश में होता है, पर यहाँ तो उनकी आलोचना हो रही है और आलोचना भी सतही नहीं बड़ी बुनियादी और गंभीर। खैर, वो बाकी के 75 हजार हमें नहीं मिले। हमने भी कोई कोशिश नहीं की, न ही उनसे कोई संपर्क हुआ। पर जैसे तैसे करके हमारा खर्चा निकल गया। शिक्षकों ने भी योगदान किया। कोन्फ्रेंस जोरदार रही।

मुझे लगता है हमने पैसे का सदुपयोग किया। उसकी बरबादी तो कतई नहीं हुई।

हमने बड़े होटलों मे, गोष्ठियाँ इत्यादि का आयोजन, इसके अवसर रहने के बावजूद, कभी नहीं की। इसमे एक भौंडेपन का एहसास होता था। साथ ही मेरा मानना रहा कि जिस माहौल के ज्यादातर साथी अभ्यस्त हैं, उसके प्रति संवेदनशील होना चाहिए। ऐसे माहौल जो अपनी वैभव के आधार पर लोगों में हीनता पैदा करे, उनसे बचना ही उचित होता है। हमारे देश के साधारण पढ़े-लिखे आदमी में वैसे ही बहुत सी कुंठायें, हीनता की भावनाएं भरी रहती हैं – भाषा, वेश-भूषा, तौर तरीके, गाँव, समाज, यहाँ तक की अपने देवी-देवताओं और माँ-बापों को लेकर भी। इनकी बातें खुल कर होती नहीं, जो अपने आप मे एक रोग है, इसलिए किसी न किसी कि जिम्मेदारी तो बनती है, इनके प्रति संवेदनशील होने की और हो सके तो कुछ करने की। मुझे लगता है, सिद्ध में ये दोनों ही काम हुए। लोगों को प्रेरित करने का काम यहाँ हुआ, साथ ही प्रभाव मुक्ति पर भी काम हुआ। लोग बाहर के आवरण (भाषा, style, कपड़े-लत्ते, इत्यादि) से प्रभावित होते हैं, जिससे मुक्त होना आराम देता है। प्रेरणा तो अंदर के गुणों से मिलती है। यहाँ हमने प्रभाव से मुक्ति और प्रेरित करने पर काम किया। इसमे बहुत बड़ी सफलता तो नहीं मिली, पर हम विफल हुए हों, ऐसा भी नहीं। मुख्य धारा की गति तीव्र और शक्तिशाली होती है, उससे अपने को बचा पाना आम व्यक्ति के लिए मुश्किल होता है, फिर भी 'संजीवनी' के एक आध पूर्व छात्रों में यह थोड़ा बहुत दिखता है। पीछे मुड़ कर देखने पर एक बड़ी गलती 'जीवन विद्या' के प्रभाव में बह जाना और "सिद्ध" को एक हद तक नजरअंदाज करना और उसी प्रभाव में "सिद्ध" के दरवाजे शहरी लोगों के लिए खोल देना, रही।

"सिद्ध" के मित्र मंडली में कुछ ऐसे भी हैं जिन्हे लगता है हमने संस्था निर्माण (institutional building) का काम नहीं किया या कर पाये। मैंने पहले ही कहा कि "छोटे" में जो सघन काम होता है वह "बड़े" होना संभव नहीं।

हमारे समस्त अच्छे कार्यक्रम साथियों से लंबी चर्चाओं के दौरान निकले, अक्सर गढ़वाल से कुमाऊँ की लंबी सड़क यात्राओं के दौरान। ये चर्चायें मुक्त वातावरण में, ईमानदारी से होती थी, बिना किसी लाग लपेट या 'politically correct' आत्म-संकोच लिए हुए। मेरा मानना है इन अनौपचारिक चर्चाओं ने हमे सिर्फ ऊर्जा ही नहीं दी हमारी सोचने-समझने की क्षमता में ही बढ़ावा ही नहीं किया, इन चर्चाओं ने हमे वैचारिक दिशा भी प्रदान की।

"सिद्ध" के मित्र मंडली में कुछ ऐसे भी हैं जिन्हे लगता है हमने संस्था निर्माण (institutional building) का काम नहीं किया या कर पाये। मैंने पहले ही कहा कि

"छोटे" में जो सघन काम होता है वह "बड़े" में होना संभव नहीं। साथ ही मेरा मानना रहा कि हमारे देश के असल मुद्दे दुनिया के दूसरे देशों से थोड़े भिन्न हैं। गरीबी, गैर बराबरी, पर्यावरण, पानी, जंगल, इत्यादि की समस्याओं में समानता हो सकती है पर इन सब से जुड़ाव और इनके पीछे जो सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष है, वह हमारे यहाँ बहुत महत्व रखता है। और इनको नजरअंदाज अगर किया जाता है, जो कि अक्सर होता है, तो बहुदा अच्छा करते करते हम गलत कर जाते हैं। सामाजिक कार्य की प्रचलित और प्रभावी समझ और दर्शन आज के दिन जो चल रहा है, वह पश्चिमी देशों से (पढ़ाई-लिखाई के और दूसरी संस्थाओं के जरिये) आयातित है। वे इन महत्वपूर्ण पक्षों की, पश्चिम से आयातित तर्कों के आधार पर, अनदेखी करते हैं। इसलिए उन्हे वे परिणाम भी नहीं मिलते जिसकी उन्हे उम्मीद होती है। इस प्रक्रिया में उन्हे हमारा समाज फूहड़, सामाजिक समस्याओं से ग्रस्त ही लगता है, समाज में छिपी ताकत और ज्ञान का इन्हे कोई एहसास नहीं हो पाता। institution building की पूरी समझ professionalism पर आधारित है और professionalism systems पर। "सिद्ध" का काम कभी भी system के अंतर्गत चला ही नहीं, जैसा पहले ही कहा जा चुका है।

दरअसल हमें समझना पड़ेगा कि मात्रात्मक (quanitative) और गुणात्मक (qualitative) या कहें materialistic/tangible (दिखाई देने वाली) सोच और non-materialistic/intangible (जो गहरे में, न दिखाई देने वाला पक्ष है) में qualitative पक्ष की महत्ता है जबकि वर्तमान समय में कोशिश यह हो रही है कि गुणात्मक पक्ष को मात्रा में परिवर्तित किया जाय, जो अंतत: असंभव है। "सिद्ध" ने हमेशा ही गुणात्मक पहलुओं को प्राथमिकता दी।

कभी कभी सोचता हूँ किशन जी, रींपोचे जी, धर्मपाल जी, नागराज जी, रण सिंह जी, गणेश जी, रवीन्द्र शर्मा जी जैसे लोग जो शायद ही किसी NGO में कभी गये हों, यहाँ "सिद्ध" में इतनी दफा और इतने इतने दिन के लिए कैसे आते रहे, बावजूद इसके कि हम विदेशी दानदाता संस्थाओं से भी पैसा लेते थे। एक बार किसी बहुत बड़ी NGO की कर्ता-धर्ता ने मुझे बड़े काम करने की नसीहत दी। उनका मतलब बड़े से पैमाने, पैसे और प्रतिष्ठा से था, गुणवत्ता या सोच की ईमानदारी से नहीं। मैंने सिर्फ सुन लिया क्योंकि बहस करना फिजूल होता है, ऐसा मैं मानता हूँ। पर ऐसे लोग हमारे यहाँ बराबर आते रहते हैं ये अपने आप में प्रमाण है कि हमने अच्छा तो किया होगा।

पवनकुमार गुप्त